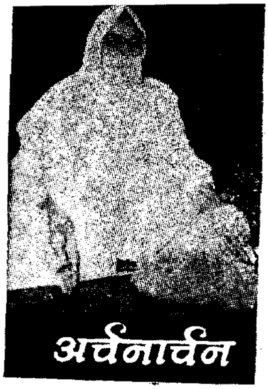

धर्म-साधना में चेतनाकेन्द्रों का महत्त्व

□ श्रीचन्द सुराना 'सरस'

गणधर गौतम ने केशीस्वामी के एक प्रश्न के उत्तर में बताया—

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥ —(उत्तरा० २३।७३)

इस शरीर (मानव शरीर) को नाव कहा गया है और जीव (आत्मा) नाविक (नाव को चलाने वाला) है। संसार को सागर कहा गया है। महर्षि (साधक) इस (संसार-सागर) को पार कर जाते हैं।

केशीस्वामी और गौतम गणधर दोनों ही ज्ञानी थे, चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव) के धारी थे।

शरीर का तिरस्कार

अपनी पारस्परिक ज्ञान-चर्चा में उन्होंने जो गूढ़ रहस्य की बात कही, उस तक सामान्यतया हमारी दृष्टि नहीं पहुँच सकी। हमने जीव का महत्त्व तो स्वीकार किया, साधना का महत्त्व भी हमने माना, किन्तु मोक्ष-साधना के साधन शरीर को हमने तिरस्कृत सा-कर दिया। नाविक का महत्त्व स्वीकार करके हम इतनी गहराई में उतरते चले गये कि नाव (शरीर) हमारी दृष्टि में महत्त्वहीन हो गई।

नाव का महत्त्व हमने इतना ही समझा कि छिद्रवाली (अस्सावणी) न हो; किन्तु जिस काठ से वह निर्मित हुई है, उसकी आन्तरिक मजबूती, दृढ़ता तथा संरचना आदि को जानने, समझने की जरूरत ही न समझी। नाविक के महत्त्व के सामने नाव उपेक्षित हो गई। साधना की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण अंग की उपेक्षा थी।

इसी प्रकार साधना के साधन इस शरीर में अन्दर क्या हो रहा है? इसकी आन्तरिक स्थिति कैसी है, इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया। ध्यान देने की बात तो बहुत दूर रही, हमने तो—

नव मलद्वार बहें निशि वासर चर्म लपेटी सोहै।
भीतर देखत या सम जग में और अपावन को है॥

कहकर, शरीर को अपावन मानकर इसे घृणित समझ लिया। यह भूल गये कि मोक्ष-साधना में इस शरीर का कितना महत्त्व है। शरीर के सहयोग के अभाव में साधक अपनी साधना में एक कदम भी नहीं बढ़ सकता। सही शब्दों में, वह साधना कर ही नहीं सकता। हमने **'मोक्खसाहणहेउस्स साहुदेहउस्स धारणा'**—इस वाक्य की गंभीरता को नहीं समझा।

शास्त्रों में शुक्लध्यान के लिए, मोक्ष-साधना के लिए अत्यन्त दृढ शरीर की आवश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताई है, वज्र ऋषभनाराच संहनन को अनिवार्य माना है। हमने उसे पढ़ा, देखा, जाना और यह मानकर चुप हो गये कि इस पंचम (कलि) काल में मोक्ष की प्राप्ति तो हो नहीं सकती। फिर क्यों इस पचड़े में पड़ा जाय ?

इस विचारधारा का परिणाम यह निकला कि शरीर और भी उपेक्षित हो गया। काया कारमी बन गई। माटी की काया में हमें कहीं कोई दीपक नहीं दिखाई दिया।

साधना में ज्योति क्यों नहीं ?

साधक अत्यन्त उत्कट भावना से साधना करता है, जप करता है, ध्यान करता है, तप करता है; किन्तु यह देखकर चकित रह जाता है कि इतने दिनों तक, वर्षों तक ध्यान करने पर भी उसकी साधना में चमक नहीं आई, तेजस्विता नहीं आई। साधना फलवती नहीं हो रही है।

और जब वह प्राचीन पुराणों में, शास्त्रों में मन्त्र-जाप की, ध्यान की महिमा पढ़ता है तब तो उसका हृदय और भी निराशा से ग्रस्त हो जाता है।

यह स्थिति क्यों आती है ? साधना तेजस्वी क्यों नहीं बनती ? साधना-विधि में क्या कहीं कोई भूल रह जाती है ? इसे एक दृष्टान्त से समझें।

आपने ट्यूबलाइट का उपयोग तो किया ही है। आपके कमरे में लगी भी है। ऐसा भी होता है कि ट्यूब पूरी रोशनी नहीं देता, उसमें विद्युत की क्षीण-सी धारा तो बहती दिखाई देती है; किन्तु जो और जितना प्रकाश उसे देना चाहिए, उतना नहीं दे रही है।

आपने दूसरी ट्यूब को देखा, उसका प्रकाश पूरा है। आप विचार में पड़ गये—पावर-हाउस से फुल लोड आ रहा है, ट्यूब, चोक, पट्टी, होल्डर आदि सब कुछ नया है, फिर क्या बात हो गई ?

मैकेनिक बुलाया आपने, या स्वयं अपने हाथ से ट्यूब को थोड़ा घुमाया, फिराया, एकदम खट की हल्की-सी ध्वनि आपके कानों में आई और प्रकाश से आँखें चुंधियाँ गईं, ट्यूब प्रकाशित हो उठी, पूरा कमरा प्रकाश से भर गया, रोशनी से जगमगा उठा।

अब क्या हुआ ? प्रकाश एकदम कैसे हो गया ? पहले की क्षीण-सी प्रकाश की धारा एक दम कैसे तेज प्रकाश में परिवर्तित हो गई।

बात यह थी कि ट्यूब के दोनों सिरों पर पीतल की धातु के जो दो पॉइन्ट होते हैं, उनका हल्का सा स्पर्श होल्डर के टर्मिनलों से हो रहा था, बहुत ही मामूली टच (स्पर्श) के कारण क्षीण-सी विद्युतधारा ट्यूब में प्रवाहित हो रही थी; जैसे ही आपने ट्यूब को घुमाया तो टर्मिनलों का परस्पर गहरा सम्बन्ध बना और ट्यूब में पूरा विद्युत प्रवाह बह उठा।

ट्यूब-लाइट में जो महत्त्व धातु के पॉइन्टों का है, साधना में वही महत्त्व शरीर-स्थित चेतना-केन्द्रों का है। जिस प्रकार ट्यूब के पॉइन्ट और होल्डर के टर्मिनलों का मध्य मात्र हल्का सा स्पर्श रहा, विद्युत प्रवाह बहुत मन्द रहा, उसी प्रकार जब तक साधक में आत्म-चेतना धारा, प्राप्त-ऊर्जा शरीर स्थित चेतना-केन्द्रों में सामान्य रूप से प्रवाहित होती रहेगी तब तक उसकी साधना भी मन्द रहेगी और ज्यों ही चेतना-केन्द्रों तथा आत्म-धारा का

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रगाढ सम्बन्ध बना कि साधना एक दम तेजस्वी बन जायेगी।

शरीर में ऐसे चैतन्य-केन्द्र अनेक हैं, किन्तु सामान्यतया इनकी संख्या ७ अथवा ९ मानी गई है।

शरीर : शक्ति का तिलिस्म

हमारा यह शरीर एक बहुत बड़ा तिलिस्म है। इसमें ऐसे-ऐसे रहस्य भरे पड़े हैं कि उसकी सूक्ष्म-सी जानकारी भी हमें चकित कर देती है।

शरीरशास्त्र की दृष्टि से हमारे शरीर में ६ नील (६,००,००,००,००,०००) कोशिकाएँ हैं। यदि इनको लम्बाई में फैला दिया जाय तो संपूर्ण धरती को ७ बार लपेट लेगी।

इसी प्रकार मानव मस्तिष्क में भी असंख्य ज्ञान और कर्म तंतु हैं। उनकी सहायता से वह सदैव गतिशील रहता है और शरीर की सुव्यवस्था करता है तथा अनुशासन बनाए रखता है।

ऊर्जा की दृष्टि से देखा जाय तो शरीर में निहित ऊर्जा का अनुमान लगाना भी असंभवप्राय है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने बताया है कि एक पुद्‌गल परमाणु से ३,४५,९६० कैलोरी (ऊर्जा) शक्ति का उत्पादन किया जा सकता है।

यद्यपि आइंस्टीन का यह अनुमान अन्तिम नहीं है। फिर भी यदि इसे सही मान लिया जाय तो कल्पना करिए, अनन्त पुद्‌गल परमाणुओं से निर्मित हमारे शरीर में कितनी ऊर्जा निहित है।

किन्तु यह ऊर्जा हमारे जानने में नहीं आती, हम इसका उपयोग भी नहीं कर पाते, बहुत ही छोटे अंश का उपयोग करते हैं।

इस सूक्ष्म अंश का भी संचार जब शरीर स्थित चेतना-केन्द्रों से प्राणधारा द्वारा किया जाता है तो साधना की ज्योति चमकने लगती है, साधक तेजस्वी बन जाता है।

इसी दृष्टि से वेदों में मानव-शरीर को **ज्योतिषां-ज्योतिः** कहा गया है।

मर्मस्थान और चेतनाकेन्द्र

आइये, अब हम देखें कि शरीर में वे स्थान कौन-से हैं जहाँ से ज्योति प्रगट हो सकती है, होती है।

वे स्थान हैं—(१) मर्मस्थान और (२) चेतना-केन्द्र।

इनमें से मर्मस्थानों की जानकारी तो अधिकांश लोगों को है। इनके आधार पर चीन में एक्यूपंचर प्रणाली विकसित की गई है। जो शूल (aches), दर्द (Pain) आदि में बहुत उपयोगी है और कई असाध्य रोगों का भी उपचार किया जाता है।

इस पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि टेबलेट, इंजेक्शन, कैप्सूल आदि लेने का न कोई झंझट और न आपरेशन का भय। सारा इलाज कुछ सुइयों (needles) के द्वारा किया जाता है। औषधोपचार और रोग-शमन की दृष्टि से शरीर में ७०० मर्मस्थानों का पता लगाया गया है। यह एक प्रकार के स्विच बोर्ड माने जा सकते हैं। जिन्हें दबाने से विद्युत तरंगें प्रवाहित हो उठती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर-लक्षण बनाम मर्मस्थान

भारतीय सामुद्रिक शास्त्र भी इन मर्मस्थानों से अपरिचित नहीं था, वहाँ इन्हें लक्षण कहा गया है और इनकी रचना के अनुसार इन्हें मीन, श्रीवत्स, स्वस्तिक आदि नामों से पुकारा गया है।

हम तीर्थंकर भगवान के शरीर को १००८ शुभ लक्षणों से युक्त मानते हैं। शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख काल्पनिक नहीं, अपितु सत्य है। भगवान के शरीर में १००८ शुभ लक्षण होते हैं और ये लक्षण शरीर के मर्मस्थानों (विद्युत केन्द्रों) से संपृक्त होते हैं। इनमें प्राणधारा अधिक सघन होती है, इसमें सन्देह की कोई गुंजायश ही नहीं है।

संस्कृत में एक सूक्ति प्राय: मिलती है—कोई पुरुष शुभ लक्षणी होता है, कोई अशुभ लक्षणी (कुलक्षणी) होता है, किसी में शुभाशुभ दोनों प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं, किन्तु अलक्षणी पुरुष कोई नहीं होता। यानी शुभ या अशुभ लक्षण सभी के शरीर में मिलते हैं। यह उक्ति सत्य है।

सामुद्रिक शास्त्र के समान ज्योतिषशास्त्र भी इन लक्षणों को मान्यता प्रदान करता है और अष्टांग निमित्त का तो एक अंग लक्षणशास्त्र है ही। उस पर से भविष्य के शुभाशुभ फल की वक्तव्यता होती है।

गोशालक ने पार्श्वापत्यिक श्रमणों से अष्टांग निमित्त विद्या पढ़ी थी, जिसका उपयोग कर वह पूजा, सन्मान प्राप्त करता रहा।

आधुनिक भाषा और युग के सन्दर्भ में यह लक्षण ही मर्मस्थान कहे जाते हैं, जो मानव-शरीर के विविध अंगोपांगों में अवस्थित होते हैं।

और मर्मस्थानों के विपरीत चेतना-केन्द्र केवल योगियों तक ही सीमित रहे, सिर्फ योग-ग्रन्थों में ही इनका उल्लेख मिलता है। चेतना-केन्द्रों को योग की भाषा में 'चक्र' वा 'कमल' कहा जाता है।

मर्मस्थान और चक्र की शरीर में अवस्थिति

जहाँ ज्ञानतन्तु अधिक एकत्रित होते हैं, सघन होते हैं, कुछ विभिन्न प्रकार की आकृतियों का रूप लेते हैं, वे मर्मस्थान हैं। यह मर्मस्थान मानव के सिर से लेकर पैर के तलवे तक विविध अंगोपांगों में अवस्थित रहते हैं, वहाँ विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ निर्मित होती हैं।

इसके विपरीत जिन स्थानों पर ज्ञान-तंतु उलझे होते हैं, वे उलझे हुए ज्ञान-तंतु 'चक्र' कहलाते हैं। यह उलझन कमल-पुष्प के आकार से मिलती-जुलती होती है, लगभग ऐसी ही जैसे कोई सर्प कुण्डली मार कर बैठा हो, और जिसकी कुण्डली कहीं शिथिल हो और कहीं कसी हुई, ऊपर-नीचे उलझी सी, जिसका प्रारम्भ और अन्त—यानी फण और पूंछ स्पष्ट दृष्टिगोचर न हो रहे हों; एक शब्द में गोरखधन्धा-सा।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने इन 'चक्रस्थानों' को खोजने का प्रयत्न किया, किन्तु सफल न हो सके। उनकी असफलता का कारण रहा भ्रम। वे इस भ्रम में रहे कि चक्र इस पौद्गलिक शरीर (औदारिक शरीर) में अवस्थित हैं। वहीं उनसे वांछित परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं।

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जबकि सचाई यह है कि चक्र अवस्थित तो होते हैं तैजस् शरीर (Electric Body) में और उनकी अभिव्यक्ति होती है, इस औदारिक शरीर में।

भौतिक शरीर में जो ज्ञान तंतुओं की उलझी हुई संघटना होती है, वह तो केवल 'निवृत्ति अर्थात् निष्पत्ति' है।

यहाँ मुझे प्रभास चित्रकार का दृष्टान्त ध्यान में आता है। इस स्थिति को समझने में उपयोगी है वह दृष्टान्त।

साकेत नगरी के राजा महाबल ने अपनी चित्रशाला को चित्रों से सुसज्जित करने के लिए दो चित्रकार नियुक्त किये—एक विमल और दूसरा प्रभास। दोनों को आमने-सामने की दो दीवारें दे दी गई हैं और बीच में परदा डाल दिया गया, जिससे कोई एक दूसरे की नक़ल न कर सके।

इनमें विमल तो था चित्रकार और प्रभास था विचित्रकार। विचित्रकार इस दृष्टि से कि उसने कोई चित्र ही नहीं बनाया, सिर्फ दिवालों की घुटाई करके उन्हें दर्पण की तरह चमकीला बना दिया। आधुनिक भाषा में कहा जाय तो ऐसी चमकीली पालिश कर दी जिसमें सामने का चित्र हूबहू प्रतिबिम्बित हो सके।

विमल ने अपनी कला का प्रदर्शन किया, नयनाभिराम चित्र बनाये। जैसे ही परदा हटाया गया तो वे चित्र चमकीली दीवारों में प्रतिबिम्बित हो उठे। पालिश की चमक के कारण सौ गुनी चमक से जगमगाने लगे।

अब राजा महाबल उस दीवार पर हाथ फिरा-फिराकर देख रहा है, आखें गड़ा रहा है, निरीक्षण परीक्षण कर रहा है, किन्तु क्या उसे वे चित्र वहाँ मिल सकते हैं? वहाँ हों तो मिलें? वे चित्र वहाँ तो हैं ही नहीं। वे तो सामने की दीवार पर बने हुए हैं।

बस, यही स्थिति, भौतिक आधार पर और भौतिक शरीर में चक्रस्थानों को खोजने वाले वैज्ञानिकों की है। वे भी चक्रों को केवल अभिव्यक्ति के स्थल में ढूंढ रहे हैं, तब उन्हें वांछित परिणाम कैसे प्राप्त हो सकते हैं।

यदि इसे एक सामान्य दृष्टान्त से समझना हो तो इस प्रकार भी समझा जा सकता है—

मान लीजिए, एक अमरूद का वृक्ष किसी गहरे सरोवर के किनारे खड़ा है। उस पर सुन्दर और पके फल लगे हैं। उनकी परछाई जल में गिर रही है। ऐसा मालूम होता है, जैसे सरोवर के अन्दर अमरूद के फल हैं।

अब यदि कोई शुक उन फलों को खाने के लिए लालायित हो, सरोवर के पानी में चोंच मारे तो क्या वह फलों का स्वाद ले सकता है? कभी नहीं। क्योंकि फल तो वहाँ हैं ही नहीं, परछाई मात्र है।

बस यही स्थिति चक्रों की है। वे भी तैजस शरीर में हैं, सिर्फ उनकी अभिव्यक्ति ही भौतिक शरीर में हो रही है।

योग, जूडो और शरीर-शास्त्र

चक्रों की अवस्थिति के सम्बन्ध में इन तीन विचारधाराओं को समझ लेना भी आवश्यक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। योग, भारतीय साधकों की साधना प्रणाली है, जबकि जूडो का प्रारम्भ बौद्धसाधुओं द्वारा चीन देश में किया गया और शरीर शास्त्र आधुनिक पश्चिमी वैज्ञानिकों द्वारा प्रचारित है, इसका अंग्रेजी नाम है—anatomy।

योगशास्त्र में इन चक्रों का नाम दिया गया है कमल, यथा—नाभि कमल आदि; जबकि जुडो (Judo) में इन्हें क्यूसोस कहा गया और आधुनिक शरीर शास्त्रियों ने इनका नाम दिया है—ग्लैण्ड्स (Glands)। वह भी अन्तःस्रावी ग्रन्थि।

अन्तःस्रावी ग्रन्थि वे ग्रन्थियाँ हैं, जिनका स्राव शरीर से बाहर नहीं निकलता अपितु शरीर के अन्दर ही रक्त आदि में मिश्रित हो जाता है। इसे हारमोन (Harmone) कहा जाता है।

हारमोनों की सबसे बड़ी विशेषता है—मानव के आवेग-संवेगों का नियमन एवं संतुलन। हारमोनों में असंतुलन हुआ नहीं कि व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ बदली नहीं। थायरायड ग्रन्थि से अधिक स्राव स्रवित हुआ और व्यक्ति क्रोध में भर गया; कम स्राव हुआ तो क्रोध शान्त हो गया, व्यक्ति उपशान्त हो गया। अध्यात्मशास्त्र की भाषा में यों भी कहा जा सकता है कि क्रोध आने पर थायरायड ग्रन्थि से अधिक स्राव होने लगा।

यह कथन की अपनी-अपनी शैली है, अन्तर कुछ भी नहीं। एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

यह एक सुखद आश्चर्यजनक सत्य है कि चक्रों (अथवा कमल) के शरीर में जो स्थान और आकार योगाचार्यों ने निर्धारित किये हैं, वे ही स्थान जूडो और आधुनिक शरीर-विज्ञानियों ने स्वीकार किये हैं, तनिक भी अन्तर नहीं है। यह तथ्य निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाएगा—

क्रम	चक्र का नाम	जूडो क्यूसोस	ग्लैण्ड्स	स्थान
१.	मूलाधार चक्र (ऊर्जाकेन्द)	सुरगिने	पेविल्क फ्लेक्सस	सुषुम्ना का निचला सिरा
२.	स्वाधिष्ठान (स्वास्थ्यकेन्द्र)	माइग्रोजो	एड्रीनल ग्लैण्ड	मूलाधार से चार अंगुल ऊपर
३.	मणिपुर चक्र (शक्तिकेन्द्र)	सुइगेट्स	सोलार फ्लेक्सस	नाभि
४.	अनाहत चक्र (तेजसकेन्द्र)	क्योटोट्सु	थाइमस ग्लैण्ड	हृदय
५.	विशुद्धि चक्र (आनन्दकेन्द्र)	हिचु	थायरायड ग्लैण्ड	कण्ठ
६.	आज्ञा चक्र (दर्शनकेन्द्र)	ऊतो	पिट्यूटरी ग्लैण्ड	भ्रू मध्य
७.	सहस्रार चक्र (ज्ञानकेन्द्र)	टेण्डो	पिनिअल ग्लैण्ड	कपाल स्थित ब्रह्म रन्ध्र

यह सात चक्र (ग्लैण्ड-Gland, जूडो क्यूसोस अथवा कमल) तो सर्वमान्य हैं ही; किन्तु साधना के लिए दो अन्य चक्रों का जानना भी आवश्यक है। वे हैं—मनःचक्र और सोमचक्र।

मनःचक्र का स्थान है ललाट और सोमचक्र का स्थान है अग्र मस्तिष्क—मस्तिष्क का वह भाग जहाँ से सम्पूर्ण क्रिया-तन्तुओं (motory activities) का नियमन तथा निर्देश होता है।

मनःचक्र अथवा ललाट प्राणी की कामना-वासना (sensitivity actions) सम्बन्धी

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवेगों संवेगों का नियामक तथा निर्देशक है।

जिस स्थान को योगाचार्यों ने ब्रह्मरंध्र कहा है, वह आधुनिक शरीरशास्त्र के लघु मस्तिष्क से संदर्भित किया जा सकता है। भारतीय योगियों के अनुसार यही वह चक्र है, जिसके पूर्ण जाग्रत होने पर सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। अतः इसे सर्वसिद्धि अथवा सर्वज्ञता केन्द्र भी किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने कहा है

इस प्रकार चक्रस्थानों अथवा चेतनाकेन्द्रों की अवस्थिति आदि के बारे में सभी एकमत हैं।

अब हमें यह देखना है कि इन चेतना-केन्द्रों का आत्मसाधना में—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की साधना में कितना महत्त्व है? यह कितने उपयोगी हो सकते हैं? साधक किस प्रकार इनका उपयोग करता है?

चेतना-केन्द्रों की साधना, राधा-वेध से भी दुष्कर

साधना के क्षेत्र में चरणन्यास करने से पहले चेतना-केन्द्रों की प्रकृति को समझ लेना आवश्यक है। इन केन्द्रों को जगाना राधावेध से भी अधिक दुष्कर, श्रम-साध्य और स्थिरता—दृढ़ता की अपेक्षा रखता है।

धनुर्वेद में राधावेध अत्यन्त उच्चकोटि की साधना मानी गयी है। यह धनुर्धारी के मन की एकाग्रता तथा अचूक निशाना साधने की क्षमता एवं त्वरित निर्णय तथा उसके क्रियान्वयन की परीक्षा है।

राधावेध में तो परछाई देखकर ऊपर चक्र में घूमती हुई पार्थिव पुत्तलिका का वेध किया जाता है; किन्तु चेतना-केन्द्रों को जगाने की प्रक्रिया में तो औदारिक शरीर में अवस्थित चक्र की तैजस शरीर में पड़ती हुई परछाई (सही शब्दों में ज्ञान (आत्मा) की धारा का सघन चक्राकार प्रवाह) को वेधा जाता है।

राधावेध में तो तीर भी भौतिक होता है और उसे भौतिक धनुष पर चढाकर ही लक्ष्य-वेध किया जाता है; जबकि चेतनाकेन्द्र-जागृति में बाण का काम करती है ऊर्जा अथवा शक्ति और धनुष है स्वयं साधक का भावावेग। भावना रूपी प्रत्यंचा पर प्राणधारा रूपी ऊर्जा का बाण चढ़ाकर चेतनाकेन्द्रों को प्रसुप्ति से जागृत दशा में लाया जाता है।

यह साधन कुछ दुष्कर अवश्य हैं, और दुष्कर हैं सिर्फ उन्हीं साधकों के लिए जिनके अन्तस् में बाह्य जगत् की नामना-कामना उपस्थित रहती है, किन्तु जो साधक सच्चे हृदय से आत्म-साधना करना चाहता है, उसके लिए यह दुष्कर नहीं है।

साधना के लिए अन्तरंग की निस्पृहता और मन की एकाग्रता तथा काय (आसन) की स्थिरता एवं वचन योग की अचपलता तो आवश्यक है ही।

चेतना-केन्द्रों के स्वरूप, अवस्थिति, लक्षण आदि के बारे में जानने के बाद अब हम यह जानने का प्रयास करें कि साधक की साधना में यह चेतना-केन्द्र कितने सहायक बनते हैं, इनके जागृत होने पर साधना में किस प्रकार चमक आती है, उसकी चेतनाधारा (प्राणशक्ति की ऊर्जा) का किस प्रकार ऊर्ध्वारोहण होता है और वह कैसे अनुत्तर ज्ञान-दर्शन के प्रकाश से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगमगा उठती है।

सम्यग्दर्शन

जैनधर्म के अनुसार मोक्ष-साधना की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है। यहीं से आत्मा कर्म-विशुद्धि करती हुई सर्व-विशुद्धि की ओर बढ़ती है और क्रमशः अपना चरम लक्ष्य-मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए कर्मग्रन्थों में बताया गया है कि अनादि काल से आत्मा के साथ लगी हुई मिथ्यात्व प्रकृति (सम्यक्त्व एवं मिश्र) तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ—इन पाँच (अथवा सात) प्रकृतियों (जिन्हें दर्शन-सप्तक कहा गया है) के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाने पर जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

भाष्य साहित्य में सम्यक्त्व प्राप्ति के सम्बन्ध में एक रूपक मिलता है।

तीन व्यक्ति व्यापारार्थ दूसरे देश को चले। रास्ते में एक वन पड़ता था। जब वे वन में होकर जा रहे थे तो कुछ लुटेरे मिले। एक व्यक्ति तो लुटेरों को दूर से ही देखकर सिर पर पांव रखकर पीछे की ओर भाग निकला, दूसरे ने संघर्ष किया किन्तु पराजित होकर उनके फन्दे में फंस गया। तीसरा दृढ मनोबल वाला था, उसने उन लुटेरों से संघर्ष किया और पराजित करके अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँचा।

शास्त्रकारों ने इस दृष्टान्त में क्रोध आदि कषाय, मिथ्यात्व रूप व्यामोह, प्रमाद आदि को लुटेरा कहा है और उन्हें पराजित करने वाले जीव को सम्यक्त्व लाभ बताया है।

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि ग्रन्थकारों ने एक शब्द दिया है—मिथ्यात्व की ग्रन्थि। सम्यक्त्व-प्राप्ति के लिए साधक इस मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेदन करता है, तोड़ता है, खोलता है और मिथ्यात्व-ग्रन्थि के टूटते ही उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

अब देखना यह है कि कर्मशास्त्रों में बताई गई यह मिथ्यात्व-ग्रन्थि आत्मा में कहाँ है, अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से इसका स्वरूप क्या है, साधक किन परिणामों से और किस प्रकार इस ग्रन्थि को तोड़ता है, उस समय चेतना-केन्द्र किस प्रकार उपयोगी बनते हैं तथा मिथ्यात्व-ग्रन्थि टूटने और सम्यक्त्व प्राप्ति होने के उपरान्त साधक की आन्तरिक एवं बाह्य प्रवृत्तियों में क्या परिवर्तन होता है?

पहले आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्यात्व-ग्रन्थि का स्वरूप समझें।

सम्यक्त्व प्राप्त होने से पूर्व सभी संसारी आत्माओं के साथ अनादि काल से यह मिथ्यात्व-ग्रन्थि लगी रहती है। आध्यात्मिक भाषा में आत्मा की प्राणधारा अधोमुखी (अथवा बहिर्मुखी) रहती है। वह भवाभिनन्दी तथा पुद्गलाभिनन्दी बना रहता है।

योगशास्त्रों में इसे रूपक की भाषा में कहा है कि सुषुम्ना के निचले सिरे पर मूलाधार चक्र—ऊर्जाकेन्द्र कुण्डलिनी शक्ति अधोमुख हुई सोई रहती है।

अब एक बात और समझें। प्राणों के शरीर में दो केन्द्र हैं—एक है ज्ञान-केन्द्र और दूसरा है काम-केन्द्र। ज्ञान का प्रमुख स्थल है मस्तिष्क और कामकेन्द्र प्रमुख रूप से नाभि के निचले प्रदेश में अवस्थित रहता है, वहीं से अपनी अभिव्यक्ति कराता है। किन्तु इसे

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियंत्रित करता है मस्तिष्क में अवस्थित Desireant Sexcentre जो Pitutory gland के समीप ही स्थित है ।

यहाँ काम को सीमित अर्थ में न लें । सिर्फ वासना अथवा स्पर्शेन्द्रिय के भोग तक ही सीमित न करें । इसे व्यापक रूप में लें । जैसे ब्रह्मचर्य का अभिप्राय सभी इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण करना है । उसी प्रकार काम का अर्थ सभी इन्द्रियों और मन को खुली छूट देना है । जैनआगमों में काम-भोग शब्द इसी रूप में प्रयुक्त हुआ है । जिसे इच्छा-काम, मदन-काम इन दो नामों से अभिव्यक्त किया है ।

अब आत्मा में मिथ्यात्वकर्मजन्य ग्रन्थि को देखिये । आत्मा में अनेक प्रकार की धाराएं बह रही हैं—कषाय की धारा, अशुभ लेश्याओं की धारा, मिथ्यात्व की धारा आदि-आदि । वहाँ ज्ञान की धारा भी बह रही है किन्तु बहुत ही क्षीण है ।

मिथ्यात्व की धारा कृष्णलेश्या और अनन्तानुबन्धी कषायों के योग से अत्यन्त काली एवं भयावह है ।

अब साधक अपनी साधना द्वारा इस धारा को तोड़ने का प्रयास करता है । वह भावना योग (शुभ और शुद्ध भावना) के वायु से प्राण ऊर्जा को उद्दीप्त करता है, परिणामस्वरूप मूलाधार चक्र स्थित सोई अथवा मूच्छित दशा में पड़ी कुण्डलिनी शक्ति की चिरनिद्रा टूटती है, उसका मुख जो नीचे की ओर था, वह ऊपर की ओर हो जाता है ।

उसी समय कषाय धारा, अशुभ लेश्या धारा, मिथ्यात्व धारा भी अपना वेग दिखाती हैं और भाष्य साहित्य में वर्णित रूपक की स्थिति घटित हो जाती है ।

दृढ़ साधक भावनायोग से अपनी ऊर्जाशक्ति को प्रदीप्त करता ही जाता है । वह भावधारा कुण्डलिनी शक्ति के रूप में ऊपर की ओर उठती हुई स्वाधिष्ठान आदि चक्रों में से गुजरती हुई, उन्हें उद्दीप्त-प्रदीप्त-जागृत करती हुई, सहस्रारचक्र तक पहुँच जाती है । उस समय उसे अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है, अनुभव होता है और तब जो उसे अनिर्वचनीय आनन्द आता है, उस अनुभूति का नाम ही सम्यक्त्व है ।

जिस आत्मा को यह अनुभव एक बार भी हो गया, चैतन्य-धारा का स्वाद आ गया, जैनशास्त्रों के अनुसार उसने मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी पर पैर रख दिया, उसका मोक्ष निश्चित हो गया ।

इस स्थिति को ही कर्मशास्त्रों में मिथ्यात्व-ग्रन्थि का छेदन कहा गया है ।

अब इस बात पर भी विचार कर लेना उचित है कि सम्यक्त्व के फलस्वरूप मानव के शरीर में क्या परिवर्तन होते हैं, विभिन्न ग्रन्थियों के स्राव (हारमोनो) में किस प्रकार का बदलाव आता है, जिसके बाह्य व्यावहारिक लक्षण प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य के रूप में प्रकट होते हैं, बाह्य रूप से दिखाई पड़ते हैं ।

प्रशम—शास्त्रों में प्रशम का लक्षण इस प्रकार दिया है—**रागादी नामनुद्रेकः प्रशमः ।** अर्थात् राग-द्वेष आदि कषायों का उद्रेक न होने देना । दूसरे व्यावहारिक शब्दों में कषायों को जीतने का प्रयत्न करना । साथ ही कदाग्रह, दुराग्रह आदि दोषों का उपशमन तथा सत्याग्रही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोवृत्ति का निर्माण।

संवेग—इसका लक्षण है—**संसाराद् भीरुता संवेगः**। अर्थात् जन्म-मरण आदि के अनेक दुःखों से व्याप्त संसार से भयभीत रहना अथवा संसार से मुक्ति प्राप्त होने की भावना चित्त में सतत रहना।

निर्वेद—इसका शास्त्रोक्त लक्षण है—**संसारशरीरभोगेषूपरतिः**। यानी शरीर (उपलक्षण से समस्त इन्द्रिय) और सांसारिक भोगों के प्रति अनासक्ति की भावना निर्मित होना।

अनुकम्पा—समस्त प्राण, भूत, सत्व और जीवों को अभय देने की भावना रखना तथा कष्ट एवं अभाव से पीड़ित प्राणियों के प्रति दयाभाव रखना। दूसरे शब्दों में हृदय से क्रूर भावना निकल जाना।

आस्तिक्य—वीतराग तीर्थंकर भगवान ने जैसा तत्त्वों का, द्रव्यों का, लोक-अलोक आदि का स्वरूप बताया, इस पर संदेहरहित दृढ़ विश्वास रखना, किंचित् भी शंका को स्थान न देना।

अब जरा चक्रों के जागृत होने के परिणामों पर विचार करिए। स्वाधिष्ठानचक्र जागृत होते ही कामना, वासना और कषायों में मन्दता आने लगती है। विशुद्धिचक्र आवेग-संवेदों को नियंत्रित करता है। परिणामस्वरूप प्रशम और संवेग व्यवहार में परिलक्षित होने लगते हैं।

निर्वेद का कारण हृदयचक्र बनता है और आज्ञाचक्र आस्तिक्य का प्रमुख हेतु है। क्योंकि भगवान द्वारा कथित सूक्ष्म तत्त्वों का विशिष्ट ज्ञान हुए बिना दृढ़ प्रतीति होना बहुत कठिन है। शब्दों से भले ही वह कहता रहे कि मुझे जिन-वचनों पर पूरा विश्वास है, किन्तु व्यवहार में, बोलबाल में वह कुछ और ही कहता है, बोलता है।

बहुत साधारण बहुप्रचलित वाक्य है—

भगवान की कृपा है।

म्हारो तो भगवान रूठ गयो लागे छे।

भगवान तेरा कल्याण करें।

जैसी भगवान की इच्छा।

As God's will.

God bless you.

साधारण मानव ही नहीं, आगम अभ्यासी भी ऐसे शब्द बोल जाते हैं, यह सामान्य प्रवृत्ति है। किन्तु जिस साधक का आज्ञाचक्र जागृत हो चुका है, आस्तिक्य गुण दृढ़ हो चुका है, उसके मुख से ऐसे शब्द निकल ही नहीं सकते। उसका एक-एक शब्द आत्मा-आस्तिक्य की तुला पर तोला हुआ निकलेगा।

इसी प्रकार उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रशम आदि गुण प्रत्यक्ष और सतत परिलक्षित होंगे, कटु वचन भी उसे उद्वेलित नहीं कर सकेंगे।

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नचन्द्र जी महाराज के जीवन की एक घटना है।

एक ब्राह्मण ने महाराजश्री को देखकर कहा—इन जैनसाधुओं (ढूंढ़ियों) का मुंह देखना भी पाप है, जो देखे, वह नरक जाता है।

महाराजश्री ने मंदमुस्कान से पूछा—'और आपका मुँह देखने वाला ?'
'सीधा स्वर्ग जाता है' गर्वित ब्राह्मण का उत्तर था।'

महाराजश्री ने हंसकर कहा—आपके कथन के अनुसार ही हम तो स्वर्ग जायेंगे ही और आपकी आप जानें।

घटना बहुत मामूली है, किन्तु समझने की बात यह है कि इतनी शांति, बुद्धि का इतना स्फुरण, आदि कैसे संभव है ? भौतिक एवं आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से यह सब हारमोनों के परिवर्तन का प्रभाव है।

जैनसाधना पद्धति के अनुसार यह परिवर्तन भावना योग से होता है। शुभ, शुद्ध आध्यात्मिक भावनाओं के सतत प्रवाह से उनके चक्र अनजाने ही जागृत हो जाते हैं और परिणामस्वरूप वहाँ स्थित ग्रन्थियों (Glands) से प्रस्रवित हारमोन भी तदनुकूल परिवर्तित हो जाते हैं।

भेदविज्ञान : शरीर और आत्मा की पृथक्ता

सम्यक्त्व के लिए आधारभूत है—भेदविज्ञान। जब तक मानव आत्मा और शरीर को पृथक्-पृथक् अनुभव नहीं करता तब तक वह सम्यक्त्वी नहीं बन पाता। साधु और शास्त्र सभी एक स्वर से कहते हैं—**एगं अप्पाणं संपेहि**—एक आत्मा को देखो, **सरीरं अन्नं**—आत्मा से शरीर भिन्न है। आत्मा को शरीर से पृथक् समझो।

किन्तु श्रोता मानव के सामने सब से बड़ी कठिनाई यह है कि आत्मा को शरीर से पृथक् कैसे समझें। इसका आज तक का सारा चिन्तन, सारा क्रियाकलाप देहाश्रित ही तो है।

फिर शरीर अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ है। असंख्यात वर्षों से दोनों एकमेक हो रहे हैं। नीर-क्षीरवत् एकता रही है। इतनी पुरानी अनुभूति को अचानक ही कैसे भुलाया जा सकता है। कैसे समझें कि आत्मा में और शरीर में भेद है। बड़ी मुश्किल है।

अब थोड़ा पीछे लौटिये। इसी निबन्ध में बताया जा चुका है कि साधक जब अपनी भावनाधारा को तीव्र वेग से चक्रों में होकर प्रवाहित करता है तो उसे कषायधारा, लेश्याधारा, अज्ञान-मिथ्यात्व-मोहधारा के प्रबल अवरोध का सामना करना पड़ता है।

उस समय उसके सामने कार्मण शरीर के रूप में घटाटोप अन्धकार आता है। वह अत्यन्त भयंकर है और वहीं मिथ्यात्व की ग्रन्थि पड़ी हुई है।

साधक की भावना द्वारा उत्प्रेरित प्राणधारा जब इस भयंकर कार्मणशरीर से भयभीत न होकर उसमें से होकर गुजरती है और मिथ्यात्व ग्रन्थि को तोड़ कर आत्मसाक्षात्कार होता है, तब स्वयं ही उसके अन्दर शरीर के प्रति अरुचि जागती है, साथ ही शरीर (कार्मण, तैजस, औदारिक) अलग है, यह प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। साथ ही राग-द्वेष आदि विभाव तथा क्रोधादि कषाय की पृथक्ता भी प्रगट हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणामस्वरूप वह शरीर को अपनी आत्मा से अलग जानने लगता है। उसका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि आत्मा और शरीर दोनों एक दूसरे से पृथक् हैं, भिन्न हैं। दोनों में कोई एकरूपता नहीं अपितु एक दूसरे से विलक्षण हैं।

और तभी व्यवहार में यह स्थिति आती है—

जे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर सूं न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलाये बाल ।।

समदृष्टि साधक की सभी क्रियाएँ ऐसी ही होती हैं। अपनी स्थिति-परिस्थिति के अनुसार वह कर्तव्यपालन की भावना से ही समस्त व्यावहारिक प्रवृत्ति करता है किन्तु अन्तर में तो आत्मानुभव की अनुभूति सतत चलती रहती है।

आत्मानन्द का अनुभव

जैनदर्शन में सिद्धों के प्रमुख आठ गुणों में (जीव के) 'सुख' अथवा 'आनन्द' एक प्रमुख गुण बताया है। जैन-दर्शन के समान आत्मा के 'आनन्द गुण' सभी आत्मवादी दर्शनों ने स्वीकार किया है और इसी को आत्मानुभूति (Self Realisation) कहा है तथा इसी को प्राप्त करना मुख्य लक्ष्य रखा है।

सम्यक्त्व-प्राप्ति के क्षण में साधक को जिस आत्मानन्द की प्रथम बार अनुभूति होती है, उस आनन्द के समक्ष उसे संसार के सभी सुख फीके लगते हैं; अमृत के सामने नमक जैसे खारे लगते हैं।

उस आनन्द की अनुभूति का शास्त्रों में जो वर्णन किया गया है, वह सब साधक को प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही आत्मा से वह आनन्दधारा बहती हुई साधक की अनुभूति में आने लगती है। इसी को आध्यात्मिक ग्रन्थों में निश्चय सम्यक्त्व कहा है और इसी को चरण-करणानुयोग की दृष्टि से स्वरूपाचरणचारित्र माना गया है। इन दोनों का सम्मिलित नाम ही सम्यक्त्व है।

किन्तु इतना निश्चित है कि सम्यक्त्व के साथ स्वरूपाचरणचारित्र अवश्य रहता है। आत्मानुभूति के साथ आत्मानन्द का अनुभव न हो, यह सम्भव नहीं। यह कैसे सम्भव है कि आप अग्नि का अनुभव तो करें, किन्तु ताप का न करें। गुणी के साथ गुण का अनुभव अवश्य होगा, जैसे द्राक्षा के साथ ही उसके मधुर रस का।

और यदि कभी विषय, कषाय अथवा किसी अन्य कारणवश आत्मानन्द का अनुभव नहीं होता तो सम्यक्त्व केवल शब्दमात्र में ही रह जाता है; इसकी यथार्थता समाप्त हो जाती है।

निसर्गजत्व और अधिगमजत्व

सम्यक्त्वप्राप्ति दो प्रकार से बताई गई है—प्रथम, स्वयं ही बिना किसी बाह्य निमित्त के और दूसरी सद्गुरुओं के उपदेश अथवा सत् शास्त्रों के पठन से। यद्यपि दोनों में ही सम्यग्दर्शनप्रतिबन्धक कर्म-प्रकृतियों का उपशमन, क्षय और क्षयोपशम आवश्यक है, किन्तु

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निसर्गज सम्यक्त्व की प्रक्रिया कुछ स्पष्ट है जबकि अधिगमज सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रक्रिया ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है।

यहाँ दो ऐतिहासिक दृष्टान्त उपयोगी रहेंगे।

एक था नाविक कोलम्बस। संसार के इतिहास में बड़ा नाम है उसका, अपने देश फ्रान्स से चला। बड़ी धूमधाम से इसे फ्रान्स के राजा और जनता ने विदा दी। उसका उद्देश्य भारतवर्ष को पहुँचाने वाला जल-मार्ग खोजना था। चल दिया अपना लक्ष्य पाने के लिए।

किन्तु जा पहुँचा ऐसे टापू में जहाँ से बाद में उत्तरी अमेरिका का पता लगा। यद्यपि वह मन में यही समझा कि मैं भारतवर्ष पहुँच गया। मैंने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है।

दूसरा नाविक था वास्कोडिगामा। वह भी चला भारत को लक्ष्य बनाकर। उसका उद्देश्य भी समुद्री मार्ग से भारत पहुंचना था। पुर्तगाल के राजा ने उसको मार्गव्यय भी बड़ी मुश्किल से दिया।

किन्तु वह भारत के बन्दरगाह पर आ पहुँचा। उसने अपना वास्तविक लक्ष्य पा लिया।

क्या कारण रहा इसका? एक क्यों सफल नहीं हुआ, दूसरा क्यों सफल हो गया। जबकि इतिहास बताता है कि कोलम्बस बहुत ही शांत स्वभावी था, नम्र नीति से काम लेने वाला, साथी नाविकों के साथ उसका बहुत ही मुलायम व्यवहार था।

इसके विपरीत वास्कोडिगामा कठोर अनुशासनप्रिय था। वह स्वयं भी अनुशासन में रहता था और साथी नाविकों को भी अनुशासन में रखता था, विरोध उसे बर्दाश्त नहीं था, प्रकृति (स्वभाव) से वह उग्र था, अपनी ही चलाता था, किसी की नहीं सुनता था।

साधारणतया ऐसा व्यक्ति विफल ही होता है; किन्तु फिर भी वह सफल हुआ। उसकी सफलता का क्या रहस्य था?

रहस्य था—सही सूचना, पक्का इरादा, दूरदृष्टि, अनुशासन। उसे अरब लोगों से भारत की दिशा के बारे में, अवस्थिति के बारे में सही सूचनाएँ मिली थीं। उन लोगों से उसने मार्ग-दर्शन प्राप्त किया था जो स्वयं भारतवर्ष हो आये थे—स्थल मार्ग से ही सही।

इसके विपरीत कोलम्बस का आधार उन लोगों से प्राप्त जानकारियाँ थीं, जो स्वयं कभी भारत गये ही नहीं थे, उन्होंने दूसरे लोगों से सुन ही लिया था और उन्होंने भी किन्हीं अन्य लोगों से सुना था। उसे सिर्फ अनुमानित ज्ञान ही प्राप्त हुआ था, प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा बताया गया ज्ञान नहीं था।

इसी तरह जो लोग प्रत्यक्षदर्शियों और साक्षात् आत्मानन्द की अनुभूति करने वाले अनुत्तर ज्ञान-दर्शनसम्पन्न महापुरुषों द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं, सम्यक्त्वलाभ कर लेते हैं।

तथा जो अन्य लोगों के बहकावे में आकर प्रयास शुरू कर देते हैं, वे इधर-उधर भटक जाते हैं, कोलम्बस की तरह प्राणान्तक विपत्तियाँ सहते हैं, फिर भी लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते। सम्यक्त्व की ज्योति और आत्मानन्द की झलक भी उन्हें नहीं मिलती।

सद्गुरुओं द्वारा उपदेश-प्राप्त साधक जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह अधिगमज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व कहलाता है।

अब एक और दृष्टान्त लीजिए।

एक व्यक्ति है। वह जहाज में बैठकर जा रहा है। इसका लक्ष्य भारतवर्ष नहीं है, कभी उसने भारत का नाम भी नहीं सुना। अचानक ही समुद्र अशांत हो जाता है, ऊँची-ऊँची लहरें उठने लगती हैं, जहाज लहरों पर गेंद की तरह उछलने लगता है, प्राण बचाने के लिए वह रक्षक पेटी (Safety Belt) कमर से बांध लेता है।

वाहन टूट जाता है, वह अथाह समुद्र में गिर जाता है, किन्तु रक्षक पेटी के कारण डूबता नहीं, ऊँची-नीची लहरों के थपेड़े खाता हुआ समुद्र तल पर तैरता रहता है, मन में एक ही भावना है—किसी तरह इस समुद्र से बाहर निकल जाऊं, इस खारे पानी से मुझे मुक्ति मिले। नाक, मुंह, कान, सारे शरीर में नमक भर गया है। बड़ा दु:खी है, किसी तरह त्राण पाना चाहता है।

अचानक ही एक जोरदार लहर आती है और उसे भारत की शस्य श्यामला आर्यभूमि पर फेंक जाती है।

निसर्गज सम्यक्त्व प्राप्ति का यह भौतिक उदाहरण है।

संसार-दु:ख से संतप्त मानव जब मुक्ति प्राप्ति की तीव्र भावना करता है तो भी चेतना केन्द्रों में, शरीर के आन्तरिक भागों में वही प्रक्रिया होती है जो अधिगमज सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए गुरुदेव के निर्देशन में समझदार शिष्य करता है।

दोनों ही सम्यक्त्वों में आन्तरिक कारण समान हैं—भावना के तीव्र प्रवाह का चेतना-केन्द्रों में होकर गुजरना और कर्म-ग्रन्थों की भाषा में दर्शन-प्रतिबन्धक कर्म-प्रकृतियों का उपशमन अथवा क्षय होना और परिणाम भी समान हैं, आत्मानन्द की—आत्मा के स्वभाव की अनुभूति होना।

बस, अन्तर इतना ही है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन में साधक बाह्य तैयारी नहीं करता, जबकि अधिगमज के लिए वह बाह्य प्रयत्न भी करता है। एक दृष्टान्त द्वारा इसे यों समझ सकते हैं—

एक नगर है। इसके चारों ओर ऊँची दीवार है। उसमें प्रवेश का एक ही द्वार है। चाहे नेत्र-ज्योति वाला नगर में प्रवेश करना चाहे अथवा प्रज्ञाचक्षु, जाना दोनों को उसी द्वार से होगा।

इसी प्रकार हमारा शरीर एक नगर है। नगर क्या पूरा लोक ही है। हम अभी तक उसके बाहर ही चक्कर लगा रहे हैं। हमारा मन और इन्द्रियाँ सभी की दौड़ बाहर की ओर ही है।

यदि हमें सम्यक्त्व प्राप्त करना है, शरीर में अवस्थित सच्चिदानन्दघन आत्मा का साक्षात्कार करना है, तो हमें अपने स्थूल शरीर में अवस्थित सूक्ष्म लोक की यात्रा करनी ही पड़ेगी, बहिर्मुखी प्रवाह को अन्तर्मुखी बनाकर चेतना-केन्द्रों के मार्ग से आत्म-गवेषणा करनी ही होगी।

यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि सम्यक्त्वप्राप्ति के लक्ष्य वाला साधक ऐसा संकल्प नहीं

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता कि मैं अमुक चक्र को जागृत करूं और न वह जान-बूझकर ऐसी कोई प्रक्रिया ही करता है, किन्तु सम्यक्त्व-प्राप्ति की यह सहज स्वाभाविक प्रक्रिया, ठीक रक्तसंचरण की तरह हो जाती है।

शरीर में रक्त-संचारण के लिए आप कोई क्रिया नहीं करते, किन्तु फिर आपकी नसों में, शिराओं में, धमनियों में स्वयमेव अनवरत रूप से रक्त दौरा करता रहता है। इसी तरह चाहे सम्यक्त्व निसर्गज हो अथवा अधिगमज, चेतना-केन्द्रों की जागृति उसकी सहज-स्वाभाविक प्रक्रिया है, आधार है और सम्यक्त्व का इसी प्रकार स्पर्श होता है।

चेतनाकेन्द्रों का काम यहीं समाप्त नहीं हो जाता, अपितु ये सम्यक्त्व को स्थिर रखने में भी सहायक बनते हैं। विशुद्धिकेन्द्र आदि जागृत होकर कषायों, आवेगों-संवेगों आदि को नियन्त्रित रखते हैं। परिणामस्वरूप आत्मानुभूति को, आनन्दधारा को गतिशील रहने में मदद मिलती है।

इसी धारा को अध्यात्मशास्त्रों में चेतनाधारा अथवा ज्ञानचेतना के नाम से अभिहित किया गया है। जब तक इस धारा का प्रवाह सतत चलता रहता है, चाहे मंद रूप में ही सही, मानव में सम्यक्त्व की ज्योति जगी रहती है और शनैः शनैः मोक्ष की ओर सर्व-दुःख-विमुक्ति तथा शाश्वत सुख की ओर बढ़ाती रहती है।

अब इस सन्दर्भ में सम्यग्ज्ञान पर भी थोड़ा विचार कर लें।

सम्यग्ज्ञान

शास्त्रों में उल्लेख है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। मूढ़ता समाप्त हो जाती है, प्राणी हेय-ज्ञेय-उपादेय को भलीभाँति जानने लगता है।

सच तो यह है कि ज्ञान, ज्ञान ही है। इसका स्वभाव जानना मात्र है। वह ज्ञायक है। आत्मा का सर्वप्रमुख और अविनाभावी गुण है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है—जो ज्ञान है, वही आत्मा है।

जे आया, से विन्नाया, जेण वियाणइ से आया।

ज्ञान में विकार मिथ्यात्व के कारण आता है। वह यथार्थ रूप में अपना हिताहित नहीं पहचान पाता। उन्मत्तवत् हो जाता है और जैसे ही मिथ्यात्व का नाश हुआ कि ज्ञान भी निर्मल हुआ। अपने हिताहित को जानने लगा, विवेक जाग उठा।

यह सम्पूर्ण कथन मति और श्रुतज्ञान के सन्दर्भ में है। किन्तु तीसरा ज्ञान—अवधि-ज्ञान आत्मा को किस प्रकार प्राप्त होता है, उसके बारे में कुछ चर्चा आवश्यक है।

इसका कारण यह है कि अवधिज्ञान से भूत-भविष्य प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है, अपना भी तथा औरों का भी।

और जिज्ञासा मानव की सहज वृत्ति (Instinct) है। वह भविष्य के पटलों में छिपे अपने तथा अन्य के भावी जीवन को, आने वाले समय में प्राप्त होने वाले संकटों को, आपदाओं को, लाभालाभ को आज ही जान लेने के लिए उत्सुक रहता है।

इसीलिए तो ज्योतिषशास्त्र, शकुनशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र आदि का आविर्भाव हुआ

किन्तु ये सब अनुमानशास्त्र (Scienecs of Suppositions and Probabilities) ही हैं, निश्चित नहीं हैं। जबकि प्रत्यक्ष होने के कारण अवधिज्ञान निश्चित है।

अवधिज्ञान : शास्त्रीय चर्चा

इस विषय में पहले शास्त्रीय चर्चा कर लें कि हमारे आगमों का इस संदर्भ में क्या अभिमत है ?

प्रज्ञापना (३३/३३) में अवधि ज्ञान के दो प्रकार बताये गये हैं—(१) देशावधि और (२) सर्वावधि। नंदीसूत्र (१८, गा. २) में परमावधि का उल्लेख प्राप्त होता है। अन्य परम्परा के ग्रंथों में ये तीनों भेद मिलते हैं।

नंदीसूत्र (सूत्र ९, १०) में अवविज्ञान के जो छह भेद बताये गये हैं उनमें प्रथम है आनुगामिक और उसके दो उत्तर भेद हैं—(१) अंतगत और (२) मध्यगत। इसके अतिरिक्त यद्यपि वहाँ देशावधि और सर्वावधि शब्द नहीं मिलते किन्तु चूर्णियों में जहाँ विस्तार से विवेचन है, उसके अध्ययन से ऐसा परिलक्षित होता है कि 'अन्तगत' देशावधि है और 'मध्यगत' सर्वावधि ज्ञान को लक्षित करता है।

टीका ग्रन्थों में 'अन्तगत' के तीन भेद बताये हैं—(१) पुरतः अन्तगत, (२) पृष्ठतः अन्तगत, (३) पार्श्वतः अन्तगत।

आचार्य हरिभद्र ने अंतगत और मध्यगत के लक्षण इस प्रकार दिये हैं—

(१) **मध्यगत अवधिज्ञान** वह है जो औदारिक शरीर के मध्यवर्ती स्पर्द्धकों (ज्ञान अवरोधक कर्म के परमाणु अथवा स्कन्ध) की विशुद्धि से आत्मप्रदेशों की विशुद्धि द्वारा सभी दिशाओं को जानता है। दूसरे शब्दों में यह सभी बातों को जानता है। अथवा इस विशुद्धि के परिणाम स्वरूप संपूर्ण स्थूल शरीर को जानने में सक्षम हो जाता है।

(२) **अंतगत अवधिज्ञान** इस औदारिक शरीर के किसी एक भाग से साक्षात् जानता है।

'पुरतः अन्तगत' से भविष्य जानने की क्षमता आती है, 'पृष्ठतः अन्तगत' से भूत की घटनाओं को जाना जाता है और 'पार्श्वतः अन्तगत' पार्श्ववर्ती घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम बनाता है।

अपने नामों के अनुसार जब इस स्थूल शरीर में आगे की ओर अवस्थित चक्र या चेतना केन्द्र जागृत होते हैं तब 'पुरतः अन्तगत' प्रगट होता है, पार्श्ववर्ती चेतना केन्द्रों के जागृत होने पर 'पार्श्वतः अन्तगत' और पृष्ठवर्ती चेतना केन्द्रों की जागृति 'पृष्ठतः अन्तगत' का कारण बनती है।

यहाँ इस सन्दर्भ में हम देशावधि अवधिज्ञान की ही चर्चा करेंगे। क्योंकि अभी हम सात चेतनाकेन्द्र ही मान कर चले हैं। यदि विस्तृत दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो हमारे सम्पूर्ण शरीर में चेतनाकेन्द्रों की अवस्थिति है। किन्तु इस निबन्ध की मर्यादा सात केन्द्रों तक ही सीमित रखी गई है। अतः देशावधि की चर्चा तक ही सीमित रहना उचित है।

अब आइये आप चेतनाकेन्द्रों पर। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने योगशास्त्र में इस विषय पर प्रकाश डाला है और शुभचन्द्र के योगप्रदीप में तो चेतना-केन्द्रों का काफी विस्तृत

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णन है ।

यौगिकग्रन्थों में स्पष्ट बताया है कि मनःचक्र जागृत होने पर अतीन्द्रिय ज्ञान, आज्ञा चक्र से अन्तर्ज्ञान तथा भूत-भविष्य संबंधी ज्ञान तथा सोमचक्र से सर्व प्रकार का प्रत्यक्षीकरण साधक कर लेता है ।

यह सर्वजन विदित है कि अतीन्द्रिय ज्ञानी अपनी इच्छानुसार सूक्ष्म, व्यवहित, समीपस्थ और दूरस्थ पदार्थों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होता है । भूत का और भविष्य का भी इसे प्रत्यक्ष हो जाता है ।

एक बात यहाँ ध्यातव्य है कि सूक्ष्म अथवा तैजस् शरीर में जितने और जिस प्रकार के स्पन्दन होते हैं, वे स्थूल औदारिक शरीर के आन्तरिक भाग में भी बन जाते हैं, अभिव्यक्ति का माध्यम हो जाते हैं । ये ही शक्ति और अभिव्यंजना के केन्द्र अथवा चेतना केन्द्र हैं । इन्हें आधुनिक विज्ञान की भाषा के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र (Electro-Magnetic Field) कहा जा सकता है । यही अतीन्द्रिय ज्ञान के 'करण' (instrument) बनते हैं । इन्हीं के माध्यम से देशावधिज्ञान कार्यकारी होता है ।

यद्यपि परंपरा में यह प्रसिद्ध है कि जंबूस्वामी के निर्वाण के उपरान्त अवधि ज्ञान भी व्युच्छिन्न हो गया । किन्तु उसका अभिप्राय परमावधि ज्ञान ही माना जाना चाहिए जिसकी परिणति केवल ज्ञान में होती है । देशावधिज्ञान की व्युच्छित्ति मानना उचित नहीं है, क्योंकि आज भी अनेक योगियों और साधु-सन्तों को प्रत्यक्ष ज्ञान होता देखा जाता है, वे भूत-भविष्य की घटनाओं को साक्षात् देखने-जानने में सक्षम होते हैं ।

सम्यक् तप

अब थोड़ा सा सम्यक् तप पर भी विचार कर लें ।

आध्यात्मिक यज्ञ (तप) का स्वरूप बताते हुए हरिकेशबल मुनि याज्ञिक ब्राह्मणों से कहते हैं—

तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मं एहा संजमजोग संती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

(उत्तरा० १२/४४)

यहाँ 'सरीरं कारिसंगं' शब्द इस निबन्ध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । हरिकेशबल ने शरीर (औदारिक स्थूल शरीर) को उपमा कारिसंगं उपलों (कंडों) से दी है । जितने कंडे आवश्यक अथवा सहकारी होते हैं, उससे भी अधिक आवश्यक है अरणिकाष्ठ ।

आज के युग में जो काम माचिस (दियासलाई) करती है, प्राचीन युग में वही उपयोग अरणिकाष्ठ का था । उसे परस्पर रगड़ कर उसी प्रकार अग्नि उत्पन्न की जाती थी, जिस प्रकार आज दियासलाई को माचिस की डिबिया पर लगे गंधक-फास्फोरस के मिश्रण से रगड़ कर करते हैं ।

अब प्रश्न यह है कि क्या संपूर्ण शरीर ही 'कारिसंग' है अथवा शरीर के कुछ विशेष भाग ही । इस प्रश्न के उत्तर के लिए फिर हमें चेतनाकेन्द्रों पर आना पड़ता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसा कि इस निबन्ध के अध्ययन से स्पष्ट है कि शरीर में अवस्थित प्रमुख सात चेतना-केन्द्र शक्ति के मुख्य वाहक हैं, उनसे चेतनाधारा अधिक वेग और प्रवाह के साथ बहती है, उनके जागृत होते ही आत्मा की ज्योति प्रस्फुटित होने लगती है।

तप-ध्यान में अवस्थित योगी जब इन चक्रों पर अपनी चेतनाधारा को पूरे वेग से प्रवाहित करता है तो विशिष्ट आत्मज्योति प्रकट होती है। आग्नेयी धारणा में नाभिकमल से अग्नि स्फुलिंग उठते अनुभव होते हैं। योग-शास्त्रों में यह स्थान प्रचण्ड शक्ति का केन्द्र कहा गया है। मूलाधार चक्र पर जब ध्यान किया जाता है तो शिखर की स्वर्णिम ज्योति का स्पष्ट आभास साधक को हो जाता है।

इसी प्रकार स्वाधिष्ठान चक्र पर विद्युत रेखा, मणिपूर पर बालसूर्य की प्रभा, अनाहत पर अग्निशिखा, विशुद्धि पर दीपशिखा, सोम पर सूर्य जैसी चमकीली स्वर्णिम प्रभा तथा सहस्रार पर प्रचण्ड तेज का साक्षात् अनुभव साधक को होता है।

ये सभी चक्र ज्योति को अपने अन्दर समेटे हुए हैं, ध्यान-तप से वह ज्योति प्रकट होती है। गाथा में उक्त 'तवो जोई' शब्द से इसी ओर संकेत किया गया है। किन्तु इस संपूर्ण आध्यात्मिक ज्योति का मूल अधिष्ठान जीव स्वयं है, इसी की शक्ति कार्य करती है, इसीलिए इस गाथा में 'जीवो जोइठाणं' कहा गया है।

इस निबन्ध में लगभग समस्त परंपराओं, मान्यताओं और योगशास्त्रों द्वारा स्वीकृत सात चेतनाकेन्द्रों को सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप के सन्दर्भ में उपयोजित दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

किन्तु जैन आगमों का गहराई से अध्ययन करने पर विदित होता है कि इस मानव-शरीर में अनेकों चेतनाकेन्द्र हैं, अथवा यों भी कह सकते हैं कि सम्पूर्ण शरीर ही चेतनाकेन्द्र है। वैसे जैनदर्शन ने सम्पूर्ण शरीर में आत्मा को व्याप्त माना है। इस दृष्टि से सर्वावधि अवधिज्ञान की भी भौतिक दृष्टि से व्याख्या-विवेचना की जा सकती है और इस ज्ञान के कार्यकारित्व में औदारिक शरीर की उपयोगिता भी बताई जा सकती है।

अन्त में इतना कहना आवश्यक है कि हम काय-बल, काय-योग और काय-करण—इन तीनों शब्दों में स्पष्ट अन्तर समझें। आगम में इन तीनों शब्दों से क्या अभिप्रेत है? इनसे हमें क्या समझना चाहिए? तीर्थंकर भगवान् ने ये शब्द किस आशय से सुनाये और गणधर देवों ने इन्हें किस अभिप्राय से हमें प्रदान किया? इनका गूढार्थ क्या है? कितने रहस्य छिपे हैं?

इन और ऐसे ही अनेक प्रश्नों पर आगमज्ञ और विद्वज्जन मान्यताओं के सन्दर्भ में मनन करके अपने चिन्तनरूप नवनीत को समाज के समक्ष रखें तो लोगों का बहुत उपकार होगा, वे साधना में शरीर की उपयोगिता समझेंगे।

एक सुझाव है सभी साधकों, विद्वानों और सर्वसाधारणों के लिए—काययोग को 'काय' ही न बनाये रखें, इसे काय-करण बनायें। यह मोक्ष की ओर गति करने में सहायक बन जायेगा।

—१९ नेहरू नगर
आगरा-२८२००२,

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org